ISSN : 2347-503X

Research Chronicler

International Multidisciplinary Research Journal

Vol II Issue I : January 2014

Editor-In-Chief

Prof. K. N. Shelke

www.research-chronicler.com

Research Chronicler

A Peer-Reviewed Refereed and Indexed International Multidisciplinary Research Journal

Volume II Issue I: January – 2014

CONTENTS

Sr. No.	Author	Title of the Paper	Download
1	Dr. M. Ravichand S. Pushpa Latha	Bigger Thomas – The Hero in the Novel *Native Son* by Richard Wright	2101 PDF
2	Sushant Chaturvedi	The Kite Runner through Wayne Booth's Evaluative System	2102 PDF
3	Ms. Upasana Dugal	Multi Touch: A Finger Synchronized Screen	2103 PDF
4	M.K.Sharma Ankur Kulshreshtha Richa Sharma	Formulation of Linear Programming for Cost Optimization in Soap Stone Powder Industry	2104 PDF
5	Dr. Archana Dr. Pooja Singh	Spousal Violence: A Woman's Destiny	2105 PDF
6	Dr. Sutapa Biswas	Interpreting the 'World Within': A Psychoanalytical Study of the Characters from *The God of Small Things* and *Cry, the Peacock*	2106 PDF
7	Kamna Dubey Naveen Kumar Pathak	Nayantara Sahgal: A New Perspective to Women's Writing in India	2107 PDF
8	Dr. Sahebrao B. Ohol	Challenges before Co-operative Dairy Industries	2108 PDF
9	Ramchandra R. Joshi	Rethinking Classics, English and Indian: A Comparative Approach to Milton's Satan in *Paradise Lost* Book I and Bhasa's Duryodhana in *Urubhangam*	2109 PDF
10	Dr. Krishna Mohan Jha	Sarjanatmak Bhay Ki Kavita	2110 PDF

11	Mr. Anant Singh	Manpower Planning in Pharmaceutical Companies in India	2111 PDF
12	Shamrao J. Waghmare *Miss. Vijaya D. Bidwai*	Ngugi's *A Grain of Wheat*: a Saga of Common Masses Struggle	2112 PDF
13	Ms. Deepali Agravat	The Concept of 'New Woman' in the plays of G.B. Shaw & Vijay Tendulkar	2113 PDF
14	Dr. Anurag Agnihotri Rajkumar	Empirical Study of Indian Export and Exchange Rate Elasticity	2114 PDF
15	Ms. Richa Pathak Dr. Apara Tiwari	Empowered Indian Women in Selected Novels	2115 PDF
16	Vijay Lingayat	A New Media to Explore English Language Learning Skills: A Perspective Approach	2116 PDF
17	Dr. P.B. Patil	Migratory Modes in *The Shadow Lines*	2117 PDF
18	Dr. Hasmukh Suthar Prof. Vishal Joshi	Importance of Correlation in Rural Higher Education	2118 PDF
19	Dr. Meenakshi Kaushik	The Role of HR as a Knowledge Facilitator	2119 PDF
20	Dr. V. A. Patil	Feminism without Illusions	2120 PDF
21	Dr. Prakash M. Joshi	The Role of Linguistics in English Language Teaching	2121 PDF
22	Dr. Keyur K. Parekh	Rasa Theory	2122 PDF
23	Mayur Wadhwaniya	Philosophy of 'Marjaranyaya' through the characters: An Analysis (With special reference to The Cat and Shakespeare)	2123 PDF
24	Ms. Nisha Chanana Dr. Naresh Kumar	Organizational Role Stress among Management Teachers: A Comparative Study	2124 PDF
25	Harshad K. Bhosale	The Promise and Peril of Civil Society in Russia	2125 PDF

सर्जनात्मक भय की कविता

कृष्णमोहन झा

Assam Universiry, Silchar, (Assam) India

सारांश

लीलाधर जगूड़ी हिन्दी साहित्य की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अत्यन्त महत्वपूर्ण कवियों में से एक हैं।अब तक उनके 10 कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं।उनकी कविता की ज़मीन सर्वसाधारण मनुष्य के जीवन-संघर्ष और उनके छोटे-छोटे सुखों के प्रसंग से निर्मित एवं विस्तृत हुई है।एक ओर उनकी कविता स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की राजनैतिक-सांस्कृतिक हलचलों की टकराहटों,अन्तर्ध्वनियों एवं मध्यवर्गीय विचलनों का आख्यान निर्मित करती चलती है तो दूसरी ओर उन बाहरी-भीतरी संकटों को भी अनवरत देखती, समझती, विश्लेषित करती तथा उनके दुष्परिणामों से हमें आगाह करती जाती है।उनकी काव्य-यात्रा में पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक की विशेष भूमिका है। यही वह समय है जब अयोध्या के विवादित ढाँचे के बहाने पूरे देश में धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता की आग लगाई गई और भूमंडलीकरण के नाम पर आत्मनिर्भरता हासिल करने के संघर्ष में जुटे देश को एक बाज़ार में बदल दिया गया। पूँजी और घृणा के कॉकटेल से एक भयानक समाज की उत्पत्ति हुई जो बेशर्मी को ही अपने जीवन का सबसे बड़ा मूल्य मान बैठा।अब भारत और इंडिया एक-दूसरे का पर्याय नहीं विलोम बन गए। शहर के उपनिवेश हो गए गाँव। यह इस देश के इतिहास का ऐसा काला अध्याय--ऊपर से मोहक और अन्दर से भयानक--है जिसे शासक-वर्ग ने अपनी देखरेख में संभव किया। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह परिदृश्य भयानक है क्योंकि बहुतों की कीमत पर चुनिन्दों को तरजीह दी जा रही है।स्वाभाविक रूप से लीलाधर जगूड़ी जैसे संवेदनशील कवि ने इस पतन और भय को अपनी काव्य-सामग्री बनाई और प्रतिपक्ष को अपनी भूमिका।निस्सन्देह उनकी कविता भय से शक्ति अर्जित करने का जतन करती है।

बीजशब्द: हिन्दी, कविता, समकालीनता, भय, संघर्ष, शक्ति, राजनैतिक-सांस्कृतिक, स्वातंत्र्योत्तर, भारतीय

लीलाधर जगूड़ी हिन्दी के समकालीन कवि हैं;पर उस अर्थ में समकालीन नहीं जो जीवित हैं और लिख रहे हैं या जीवित नहीं हैं फिर भी लिख रहे हैं।जीवित न रहकर भी लिखते रहनेवाले लेखक अपनी रचनाशीलता की अनवरतता पर मुग्ध हैं और समसामयिकता को ही समकालीनता मान बैठे हैं। दैनिक जीवन की कठिनाइयों और छोटी-छोटी घटनाओं को रचनाओं में रूपांतरित करना समकालीनता के एक पहलू को छूना तो हो सकता है पर स्वयं में समकालीनता नहीं हो सकता। समकालीनता युगीन परिस्थितियों और संस्थाओं का ऐसा समग्र दबाव है जिससे गुजरते हुए आदमी एक अदृश्य मगर वास्तविक प्रेत से मुठभेड़ करता है और सोते-जागते उस युद्ध से पैदा हुए डर और दुविधा के नश्तर को अपनी छाती पर महसूस करता है।मतलब यह कि समकालीनता एकत्रित तात्कालिकता के विरुद्ध परिस्थितियों का संश्लिष्ट और बहुआयामी समय- संदर्भ है।

लीलाधर जगूड़ी समकालीन कवि हैं तो इसलिए कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के अन्तर्द्वंद्व और जीवन-संघर्ष की पहचान उन्हें है। राजनैतिक नोंच-खसोट, आर्थिक बदहाली और सामाजिक चरमराहट

के कारणों से परिचित यह कवि अपने आरंभिक दौर से प्रायः हतप्रभ तो होता है लेकिन कुछ समय बाद अपने लिए नया रास्ता खोज लेता है। संशय और बौखलाहट से निकलकर वह इस शांत निष्कर्ष पर पहले ही आ जाता है कि 'बच्चा सोता है/ हिलाने से/ राजा जागता है।' यह निरा संयोग नहीं है कि लीलाधर जगूड़ी के काव्य-परिदृश्य में बाल-बच्चों की नींद के लिए गहरी चिंता है तो दूसरी ओर राजा की नींद को तोड़ने के लिए निहायत उतावलापन। ध्यान दें तो हम पाएंगे कि लीलाधर जगूड़ी की कविता में हिलानेवालों की खोज नक्सलवादी आंदोलन से भी पहले की उपज है।लेकिन यह ज़रूर कहा जा सकता है कि नक्सलवादी आंदोलन ने तत्कालीन हिन्दी कविता को एक नई दिशा और आवेग प्रदान किया। अकविता दौर के आस्थाविहीन दिग्भ्रमित मानस को 'नक्सलवादी' ज़मीन का मिलना धुंधली और गहराती शाम में अपने खोए हुए घर का पता-ठिकाना मिलना है। किसी व्यापक आंदोलन से खुद को न जोड़ पाने के कारण अकवितावादी कवियों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी भीड़,स्त्री और अवदमित कुंठा की झाड़ियों में खो गए।

लीलाधर जगूड़ी ने अपनी काव्य-यात्रा की शुरुआत *शंखमुखी शिखरों पर* संग्रह से की थी जो 1964 में प्रकाशित हुआ था।स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति का यह वह दौर था जब चीन से हम बुरी तरह पराजित हुए थे। एक तरफ अर्थ-संकट में बुरी तरह से फँसी भारतीय जनता मुक्ति के लिए विकलतापूर्वक राह खोज रही थी और दूसरी ओर राष्ट्रीय पराजय उसे असहनीय निरीहता में ढकेल रही थी।किशोर कवि लीलाधर जगूड़ी ऐसी निर्विकल्प परिस्थिति में शायद घर के प्रति अतिरिक्त मोह की ही कविता लिख सकते थे।

जगूड़ी का दूसरा कविता-संग्रह *नाटक जारी है* 1972 में प्रकाशित हुआ। प्रथमदृश्टया ये कविताएँ विश्वसनीय लगती हैं। सरसरी निगाह से इस संग्रह की कविताओं को देखने पर लगता है कि कवि हमारे समाज में प्रगति और भाईचारे के नाम पर खेले जा नाटक से परिचित है। लगता है कि इन नाटकारों,अभिनेताओं-अभिनेत्रियों और निर्देशकों के वास्तविक चेहरे और चरित्र की पहचान कवि को है। कह सकते हैं कि एक हद तक यह सच भी है, लेकिन उस सच की अभिव्यक्ति करते हुए जगूड़ी अनियंत्रित अमूर्तनों और असंगत मुहावरेबाजी की गिरफ़्त में आने से बच नहीं पाते।कविता को व्यवस्था के विरुद्ध हथियार बनानेवाले रचनाकारों की यह विशेष ज़िम्मेदारी होती है कि वे अमूर्तनों के मोह से बचें।लेकिन मामला अमूर्तन का नहीं,ग्रहीत टेकनीक का है, मुहावरे का है। जीत गया/...बीत गया.../चकमा दिया...महकमा दिया/खरे हैं...मरे हैं.../हट गया है...फट गया है/चोट है...वोट है/सतसई है...खिसक गई है/पटा लिया है...हटा लिया है... इत्यादि तुकों की क्या उपादेयता हो सकती है! बेशक कहा जा सकता है कि हर कवि का अपना एक निजी मुहावरा होता है जिसके कारण उसकी अद्वितीयता प्रमाणित होती है। लेकिन एक सच्चे कवि के लिए अपनी सिर्फ़ अद्वितीयता का उपार्जन पर्याप्त नहीं होता,उसे अर्जित अद्वितीयता को पारकर सार्थकता के सोपानों तक भी पहुँचना होता है। अभिव्यक्ति की शर्त पर किसी भी प्रकार की निजता को वैधता प्रदान करना खतरनाक हो सकता है। और जिसे हम निजता कह रहे हैं वह प्रकारान्तर से प्रभाव साबित हुआ तो? लीलाधर जगूड़ी की आरंभिक कविताओं पर धूमिल और श्रीकांत वर्मा का गहरा प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। मगर यहाँ हमारा काम कवि लीलाधर जगूड़ी की आरंभिक कविताओं पर पड़े प्रभावों की छानबीन करना नहीं है।परवर्ती रचनाकारों पर पूर्ववर्ती रचनाकारों का प्रभाव कोई नई और अनोखी बात नहीं। यह विकास की एक सहज प्रक्रिया है।

राजनीति स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के विकास में रीढ़ की भूमिका निभाती है।सम्पूर्ण भारतीय कविता में हिन्दी कविता अपनी प्रखर राजनैतिक चेतना के लिए अलग से ध्यानाकर्षण

की वज़ह बनती रही है।लीलाधर जगूड़ी की शुरुआती कविता से लेकर उनके तीसरे-चौथे संग्रह में भी--जहाँ से उनकी अपनी एक निजी पहचान बनती है—समकालीन भारतीय राजनीति बार-बार आती है। पेड़ और जंगल,बच्चेऔर स्त्रियाँ,भाषा और कविता,पहाड़,पृथ्वी आदि बार-बार आते हैं। ये सारी चीज़ें आपस में मिलकर कुछ इस तरह से अनुभवों का समुच्चय बनाती हैं कि कवि का मिज़ाज यथास्थिति के विरुद्ध दिखाई पड़ता है।लेकिन यह विरोध है कैसा? बकौल प्रभात कुमार त्रिपाठी "जो धूमिल या विजेन्द्र की काव्यभाषा से परिचित हैं उन्हें जगूड़ी को पढकर दु:खद आश्चर्य होगा कि सत्ता-राजनीति की क्रूरता को लेकर उनके यहाँ कोई तीखा गाली-भाव नहीं है, और न ही जन-संघर्ष के कोई प्रखर ब्यौरे हैं।" इसकी वज़ह क्या है? जवाब फिर त्रिपाठी जी ही देते हैं "कविता जगूड़ी के लिए भाषा के ज़रूरी संस्कार और अंतरावलोकन की एक गंभीर प्रक्रिया है।...जगूड़ी की कविता में एक शांत चमक है तथा समकालीन वास्तविकता से एक काव्यात्मक दूरी भी। इसलिए अपने मुखर जनवादी विचार के बावजूद वे शब्द के संस्कार और तराश के कवि अधिक लगते हैं।"

मुझे लगता है कि बात कुछ और है।दरअसल कोई भी 'प्रतिबद्ध' कवि समकालीन वास्तविकता से प्राय: दो तरह के रिश्ते कायम कर सकता है।पहला रिश्ता तो यह कि वह वर्तमान राजनीति के दोगलेपन,साँठगाँठ,मोहभंग,हिंसा,पूँजी के चरित्र,हमारे विचलन और पतन आदि को हमारे प्रत्यक्ष करे और दूसरा इन्हें समझकर इससे एक काव्यात्मक दूरी बरतते हुए इससे मुक्ति हासिल करने का सपना देखे। उस सपने का ओर अगर राजनीति से बँधा हो तो उसका छोर ज़रूर संस्कृति से सम्बद्ध होना चाहिए।जगूड़ी दूसरी कोटि के कवि माने जा सकते हैं,इसलिए उनके यहाँ सत्ता और राजनीति की क्रूरता को लेकर उस तरह का गालीभाव नहीं है जिसकी अपेक्षा प्रभात कुमार त्रिपाठी को है। रही बात 'वस्तुपरक स्थितियों और ब्योरों को काव्यीकृत्करके' उसे 'चारुत्व के संदर्भ में देखने की इच्छा' तो इसमें समस्या कहाँ है? वैचारिक प्रतिबद्धता को काव्य-संवेदना में रूपांतरित करने का कौशल कवि की कमज़ोरी है अथवा विशिष्टता? यहाँ वरिष्ठ आलोचक परमानंद श्रीवास्तव का एक कथन स्मरण आता है " कविता को और कुछ भी सार्थक,विशिष्ट,उत्तेजक,स्फूर्तप्रद होने के लिए पहले अपनी शर्तों पर कविता होना ज़रूरी है।"

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि जगूड़ी की कविता में किसी प्रकार की कोई समस्या नहीं है।बेशक उनके यहाँ एक रूढि निर्मित हुई है।लंबे समय से उनकी कविता में जंगल,पेड़,पत्ते,बच्चे आदि बारंबार आते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या कविता में एक विषय का बार-बार लौटकर आना

अवांछित है? क्या इससे कविता के अर्थ-वैभव और प्रभाव में क्षति आती है? इस संदर्भ में याद आते हैं रसूल हम्ज़ातोव, जिन्होंने अपनी मशहूर किताब *मेरा दागिस्तान* में कहा था कि हे ईश्वर! मुझे नए विषय नहीं, नई दृष्टि देना। बहरहाल, जगूड़ी की कविता में कई बार वही विषय गहरी अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।वस्तुत: एक समर्थ कवि अपने को बारबार तोड़ता है;मानो खुद को तोड़ना रचनाशीलता की एक अनिवार्य शर्त हो। उदाहरण के लिए जगूड़ी अपने समकालीन केदारनाथ सिंह,रघुवीर सहाय और कुँवर नारायण को देख सकते हैं। क्या ऐसी कोई चेष्टा उनकी कविता में देखने को मिलती है? क्या उनकी परवर्ती कविताओं में बने-बनाए रास्ते को अस्वीकार करने की चेष्टा और नया कुछ करने एवं जोड़ने का साहस दिखता है?बेशक ऐसा है। कथ्य के स्तर पर बिना लाग-लपेट के सीधी और खरी बात कहने का साहस आया है और भाषिक स्तर पर दूर से ही चमकते शब्दों की जगह सामान्य जीवन के साथ दौड़ते-भागते शब्द आए हैं। उदाहरणस्वरूप उनकी कुछ कविताओं के ये अंश देखें--

अच्छी कविता मेरी जान-पहचान के बहुत से मारे जा चुके हैं

बिना गरदन घुमाए मैं देख सकता हूँ

अपने कुछ पुराने दिनों में जहाँ बहुत सारी झेली हुई

विपदाओं के अंत हैं

उतनी दूर सुंघाई देता है कि कुछ सड़ रहा है

उसके साथ-साथ जो बताते हैं कि सुंदर था

जो कहते हैं कि सुंदर है उसके साथ अच्छी कविता

तुमको न कभी सिरदर्द हिगा न कभी कै होगी

तुम्हारे न पेट जैसे अघोरी न दिल जैसे चालू

न दिमाग जैसे अनाप-शनाप तथ्य होंगे

न मरने का न छीजने का न सड़ने का डर होगा

न पसीना छूटेगा न टट्टी रुकेगी न पेशाब

अच्छी कविता तुममें कोई झंझट नहीं

जबकि खराब कविता और मुझमें कई झगड़े हैं

कई बार हम एक-दूसरे को खत्म कर देना चाहते हैं।[i]

\+ + + + +

रोज़ हम में से कोई चला जाता है

रोज़ हम में से कोई खो जाता है

रोज़ हम में से कोई लापता हो जाता है

सबके सब हम कभी गायब नहीं होते

सबके सब हम कभी नहीं होंगे खत्म[ii]

\+ + + + +

दिन बीतता है तो अकेले नहीं बीतता।पहले आदमी का रतजगा

बीतता है तब तड़का।उसके बाद सुबह और तब जाकर

सूर्योदय।उसके बाद एक-एक पगहा आगे का दिन। तब

एक भन्नाई हुई दोपहर बीतती है।फिर लंबा अपराह्न

और तब कहीं एक बेचैन लंबी-चौड़ी गहरी शाम। आहिस्ता-आहिस्ता

जो जंगल के स्याह अंतस्थल बदल जाती है।[iii]

\+ + + + +

गया बीता कोई वक़्त कभी भी काम आ सकता है

अगर वह किसी पदार्थ में बदल जाए

जैसे तारे पृथ्वी सूरज और समुद्र और लोग

सूर्य जब पैदा हुआ था

आज वह एक गुज़रा हुआ वक़्त है

लेकिन रोज़ वह हमारे साथ शामिल है[iv]

\+ + + + +

जब दुनिया का ध्यान लड़ाई की तरफ हो

तो बच्चों का ध्यान पढाई की तरफ़ कैसे हो?

प्यार के लिए नहीं युद्ध के लिए मौसम की पड़ताल के समय

लिख रहा हूँ मैं यह कविता[v]

जगूड़ी की अधिकांश कविताएँ *युद्ध के लिए मौसम* की उपरोक्त पंक्तियों के दर्शन का ही अनुशरण करती हैं। समकालीन दुनिया में जंगल की आग की तरह लगातार फैलती हुई क्रूरता

और हिंसा ने मानव-जीवन एवं प्रकृति को इस तरह आहत किया है कि कवि के पास इसका कोई

विकल्प नहीं बचा है।इसलिए जगूड़ी जैसे ज़िम्मेदार कवि को यह प्रश्न पूछना पड़ता है—*खदेड़े जाने को मैं कैसे कलात्मक बनाऊँ?* यह सवाल युगीन यथार्थ को रचनात्मक और कलात्मक न बना पाने की विफलता से पैदा नहीं हुआ है, वरन 'कला के अवलेह' को वास्तविकता की अभिव्यक्ति में आड़े आने के कारण उसे अनुपयोगी सिद्ध करने के लिए उपजा है।

जगूड़ी के अलग-अलग कविता-संग्रह को एक क्रम से ध्यानपूर्वक पढ़ें तो एक बात साफ दीख जाती है कि उनकी कुछ कविताएँ कायांतरण के साथ-साथ विस्तृत भी होती हैं। दरअसल यह दुहराव नहीं, परिस्थितियों की जटिलता और विशिष्ठ प्रकार के अनुभवों का आकर्षण है,जो समय के विस्तार के कारण नई अर्थवत्ता धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए *शंखमुखी शिखरों पर* (1964)में संकलित कविता *शृंखलित प्यार* का विकास *इस यात्रा में* (1974) के *स्वप्नभंग* में होता है।पहली कविता में ओबरे में बँधे हुए पशु हैं जो अपने बारे में कुछ भी नहीं सोचते।वे मूक हैं। ऊपर में रहनेवाला उनके बारे में सोचता है—

ओबरे में बज रही होगी

गाय के गले की घंटी

जब कोई बैल उसे छेड़ता होगा।

स्वप्नभंग कविता में भी गाय है,बैल है,अंधेरा है और घंटी है। ओबरा भी कुछ भिन्न नहीं है शायद। *शृंखलित प्यार की* गाय क्या *स्वप्नभंग* की गाय से अलग है?

एक स्वस्थ गाय की मृदुलता ओढकर

ओबरे में

सपना देख रहे हैं बैल

1064 में ओबरे के ऊपर रहनेवाला *मैं* '74 में आकर बैल बन जाता है।लेकिन बैल बनकर *अपने त्यागे हुए कीचड़ के संसर्ग में* रह जाना कहाँ तक उचित है?इसलिए *भय भी शक्ति देता है* तक आकर *मैं* बैल बन जाने की यातना भोगते हुए अधीर हो उठता है और *दूसरे शरीर की खोज* शुरु कर देता है। वह भली प्रकार जानता है कि *जब भागना और मौत दोनों बराबर हो जाएं तो अच्छा है कि अपनी मुक्ति के लिए बँधे-बँधे कोई बड़ा स्वप्न देखा जाए।और तुरंत बैल ने बीज बन जाना चाहा उन छायादार पेड़ों का। जो आसपास डोल रहे थे।* कविता में यह बीज कुछ इस तरह विकसित होता है—

ज़मीन के तहे दिल से उस वृषभाकार बीज का एक सुई जैसा अंकुर उठा

जिसमें सबसे आगे जीभ का ज़ोर,ऐंठी हुई पूँछ की कड़क और सींगों का पैनापन था

नीचे की ओर खुरों से निकलकर धँसती हुई जड़ें थीं

ज़मीन भी पेट की तरह उठ रही थी

मुँह से मिट्टी का सख्त दरवाजा खोलते हुए

अंकुर का डील उभर रहा था[vi]

कविता के पाठकों के समक्ष अंकुर का उठना, सींगों का पैनापन,धँसती हुई जड़ें और तब अंकुर के डील का उभरना इत्यादि क्या है, बताने की ज़रूरत नहीं। यहाँ उदय प्रकाश की महान कहानी *वारेन हेस्टिंग्स का साँढ* का स्मरण लाज़मी है।जगूड़ी की कविता के दो छोर हैं-- एक ओर आज़ादी के पहले औपनिवेशिक सर्वसत्तावादी व्यवस्था में अपने आत्म को सुरक्षित रखने के संघर्ष में जुटा देश और दूसरी ओर स्वातन्त्र्योत्तर भारत में इसके नागरिक होने की न्यूनतम गरिमा के लिए लड़ते हुए लोग।इन्हीं दो किनारों के बीच उनकी कविता अपनी भाव-भूमि का निर्माण करती है। लीलाधर जगूड़ी की कविताओं में लोकजीवन के प्रति आस्था निरंतर प्रबल भी होती दिखाई देती है और दृढ़ भी।लेकिन इसके बावजूद निरंतर भय का एक अटल तापमान उनकी कविताओं के हाड़-माँस में सदा विद्यमान रहता है। यह भय यथास्थितिवादी मानसिकता और व्यवस्था का भी है और उसमें टूटने-बिखरने और विलीन हो जाने का भी।लेकिन जगूड़ी की कविताओं में निरूपित भय पाठकों को हतोत्साहित नहीं करता,बल्कि उन्हें अपने जटिल और बहुधा अलक्षित सच्चाइयों को समझने,स्वीकार करने और बदलने का हौसला देता है।कहा जाना चाहिये कि उनका काव्य-कर्म समकालीन भारतीय समाज के राजनैतिक-सांस्कृतिक संकट का एक जीवंत मानचित्र है्। इस मानचित्र को वे अपनी वर्णनात्मक भाषा और

अभिव्यक्ति की खास शैली में निबद्ध करते हैं। इस दृष्टि से उनकी कविता का कोई पूर्वज नहीं। अपने अद्यतन संग्रह की एक कविता में इस बात को वे इस तरह कहते हैं—

अपना मैं सबसे पहला पूर्वज होना याद करता हूँ

किसी चट्टान पर। किसी पेड़ पर

या कि मिट्टी में या रेत में जिन दिनों मैंने कोई आकृति देखी होगी

वो सबसे पहला फोटोग्राफ रहा होगा

और मैं सोचता-समझता सबसे पहला कैमरा रहा होऊँगा

जो उस फोटो को मुँह ज़बानी भी दिखा दिया करता होगा[vii]

---

[i] लीलाधर जगूड़ी, बुरे वक्त की कविता- भय भी शक्ति देता है,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,1991,पृष्ठ संख्या-10

[ii] लीलाधर जगूड़ी ,रोज़ एक कम, वही,पृष्ठ संख्या-24

[iii] लीलाधर जगूड़ी,एक दिन की ज़िंदगी,वही,पृष्ठ संख्या-50

[iv] लीलाधर जगूड़ी,गए-गुज़रे,वही,पृष्ठ संख्या-58

[v] लीलाधर जगूड़ी,युद्ध के लिए मौसम, वही, पृष्ठ संख्या-122

[vi] लीलाधर जगूड़ी,दूसरे शरीर की खोज,वही, पृष्ठ संख्या- 62

[vii] लीलाधर जगूड़ी:अपना पूर्वज होने का संस्मरण,खबर का मुँह विज्ञापन से ढका है,वाणी प्रकाशन,दिल्ली,2008, पृष्ठ संख्या-69